व्यर्थ शोध, निरर्थक सिद्धांत और जोखिम में शिक्षा*

पॉल स्मेयर्स

यह लेख अमेरिकी शिक्षा जगत में हो रहे शैक्षिक शोधों के बारे में है और हमारे यहाँ के संदर्भ में समीचीन है। शोध के फलते-फूलते व्यवसाय पर व्यंग्य करते हुए लेख में कहा गया है कि इन शोधों में कुछ पूर्व धारणाएँ काम करती हैं और ये पूर्व धारणाएँ ही अविचारित और दोषपूर्ण हैं। लेख में, जैसा कि शीर्षक से भी ध्वनित होता है कि अधिकांश शोधों से यह अपेक्षा रहती है कि वे भविष्यवाणी करें लेकिन किसी भी शोध से प्राप्त नतीजे किसी अन्य समस्या में नुस्खे के तौर पर काम में नहीं लिए जा सकते। ऐसे शोध तितली पकड़ने या ताश खेलने के समान हैं जिनमें व्यस्तता तो रहती है लेकिन हासिल कुछ नहीं होता।

अमेरिकन एजुकेशनल रिसर्च एसोसिएशन की वार्षिक सभा में प्रस्तुत हज़ारों आलेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि शैक्षणिक अनुसंधान एक फलता-फूलता व्यवसाय है। निश्चित रूप से इस क्षेत्र में इतना काम पहले कभी नहीं हुआ, जितना इन दिनों हो रहा है। शैक्षणिक अनुसंधान की प्रकृति (चाहे वह गुणात्मक हो या मात्रात्मक) में विविधता बढ़ रही है और उनमें से अधिकांश व्यापक अर्थ में आनुभविक हैं; क्योंकि हम जानना चाहते हैं कि नियमित शैक्षणिक कार्यकलाप में क्या होता है, कैसे होता है और क्यों होता है? शैक्षणिक प्रक्रिया को अच्छे से अच्छा बनाने और इतने ही अच्छे नतीजे प्राप्त करने में इस तरह के अनुसंधान से बहुत ज़्यादा अपेक्षाएँ रहती हैं। निश्चित तौर पर कोई भी प्रैक्टिशनर यह नहीं मानता कि अनुसंधान या सिद्धांत के आधार पर ऐसे तैयारशुदा नुस्खे उसे मिल सकते हैं जिन्हें वह

* *शिक्षा विमर्श*, जुलाई-अगस्त 2006,(पृ. 24-37), से साभार प्रकाशित

अपने काम के दौरान प्रयोग कर सके। फिर भी आनुभविक शोध को आगे ले जाने वाली एकमात्र गतिविधि के रूप में देखा जाता है। परंपरागत माने जाने वाले शैक्षणिक सिद्धांत या शिक्षा दर्शन से प्राप्त अंतर्दृष्टि को कम महत्त्व दिया जाता है। यह केवल एक धारणा ही नहीं है कि इस प्रकार की विद्वता शैक्षणिक अभ्यास के लिए अधिकांशत: अप्रासंगिक है, बल्कि कई अकादमिक क्षेत्रों में शिक्षा-दर्शन की स्थिति भी वस्तुत: बहुत बेहतर नहीं है। संयोगवश यही स्थिति शिक्षा के इतिहास और समाजशास्त्र की भी है, इस सीमा तक कि लाक्षणिक रूप से रिफलेक्टिव है। किसी के लिए भी ऐसा सोचने के कई कारण हो सकते हैं कि प्रैक्टिशनर या बहुत से अकादमिक इस तरह की नकारात्मक धारणा क्यों रखते हैं, लेकिन मैं सिर्फ़ दो का ज़िक्र करूँगा। पहला, जितने प्रकार के भी विज्ञान हैं और वस्तुत: जितने भी तत्संबंधी प्रयास हैं, उनमें एक बोधगम्य पदानुक्रम है, दूसरा आमतौर पर यह विश्वास नहीं किया जाता कि किसी सिद्धांत में समाज को बदलने की क्षमता होती है।

इस लेख में शैक्षणिक अनुसंधान (आनुभविक) के प्रतिमानों से संबंधित नज़रियों के पीछे सक्रिय कुछ पूर्व धारणाओं पर ध्यान केंद्रित करूँगा। मुझे आशा है कि इन पर प्रकाश डालते हुए मैं यह स्पष्ट कर सकूँगा कि ऐसी पूर्व धारणाओं पर आधारित सिद्धांत किस तरह यह भ्रम पैदा करते हैं कि समस्याएँ एक बार में हमेशा के लिए हल की जा सकती हैं और यह आशा करता हूँ कि मैं यह दिखा सकूँगा कि स्वयं शिक्षा को इससे क्या खतरा है। कहने का मतलब यह कि गलत निष्कर्ष निकालकर इस प्रकार की सिद्धांत रचना उस तथ्य को मिटा देती है जो कि शैक्षणिक प्रक्रिया में दाँव पर लगा होता है और निरर्थक सिद्धांत को जन्म देती है। मात्रात्मक और गुणात्मक अनुसंधान पर समालोचनात्मक दृष्टि डालने के बाद मैं शैक्षणिक सिद्धांत के विकल्प के रूप में दर्शन पर ध्यान केंद्रित करूँगा। कम-से-कम यह व्यंग्य तो किया ही जा सकता है कि शिक्षा के दर्शन के रूप में इन दिनों जो कुछ परोसा जा रहा है उसमें से अधिकांश शैक्षणिक सिद्धांत के आनुभविक रूप से बेहतर नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि सुकरात ने मूल रूप में जो सिखाया, उसकी अपेक्षा की गई। अलेक्जेंडर नेहामास ने हाल ही में 'जीने की कला और व्यंग्य का महत्त्व' पर चिंतन-मनन के बाद अपने विचार रखते हुए इस उपेक्षित विषय की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। हालाँकि नेहामास के निष्कर्षों के साथ कुछ समस्याएँ हैं, पर सुकरात के विषयों की उनकी बोधगम्य पुनर्स्थापना – ख़ासतौर से उनका यह जानने का प्रयास कि जीने का सही मार्ग अपनाना हो तो जीवन की निर्मिति में क्या-क्या चीज़ें शामिल होती हैं– सही शिक्षा में निर्णायक कदम प्रतीत होता है। इस दिशा में कदम रखने के लिए मेरी राय है कि हमें शैक्षणिक अनुसंधान और सिद्धांत की आवश्यकता है, जो शैक्षिक अभ्यास (प्रैक्टिस) को गंभीरता से ले– अर्थात् हमें ऐसे नज़रिए की ज़रूरत है जो कि तात्विक और सैद्धांतिक वर्चस्व

के प्रति हमारे लगाव से हटकर और सुकरात के अर्थ में सच्चे मायनों में 'राजनीतिक' हो। ऐसा नज़रिया प्रत्यक्षवाद और नकारवाद को लांघ जाता है। पहले मैं पूरी तस्वीर रखूंगा और उन विभिन्न सैद्धांतिक पूर्वासीन धारणाओं के कुछ आम लक्षणों को रेखांकित करूंगा, जो शिक्षा में अकादमिक हितों को प्रभावित करते हैं।

शिक्षा में सैद्धांतिक रुचि

शिक्षा दर्शन में हाल ही में कट्टरतावाद की तीखी आलोचना लगातार होती रही है। इसी बीच पिछले दो दशक में शिक्षा के कुछ दार्शनिकों के कार्यों से समस्याएँ उजागर हुई हैं जो सामान्य-साध्य प्रारूप (कांट के अनुरूप) से प्रभावित सोच में अंतर्निहित थीं। उसके अतिरिक्त, उत्तर आधुनिक शैक्षणिक सिद्धांत उन सरोकारों को उठाता है जो साइतागाइस्त (किसी काल-खण्ड की संपन्न विचार संपदा का सार-तत्व) न भी सही, वर्तमान पश्चिम के ख़ास पहलू से जुड़े हैं– अर्थात् परिणामों को मापने और पदानुक्रम में रखने के प्रति पूर्वाग्रह। निश्चित तौर पर कार्यकुशलता और प्रभाविता के सनकीपन के कारण सारगर्भित असली प्रश्न लगभग पूर्ण रूप से अलग-थलग पड़ गए हैं। इसमें ऐसे विवादास्पद राजनीतिक प्रश्न भी शामिल हैं कि आखिर हमें क्या हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए? उपलब्धियाँ मतभेदों को धुँधला कर देती हैं और तब हर चीज़ को बाकी सब चीज़ के मानकों के आधार पर नापा जाता है ताकि सबको एक ही तराजू पर रखकर श्रेणीबद्ध किया जा सके और प्रत्येक को समान मानकों पर जवाबदेह ठहराया जा सके। शिक्षा-विज्ञान के ऐतिहासिक और सामाजिक अध्ययनों से पता चलता है कि समाज और व्यवहार संबंधी विज्ञान में मात्रात्मकता के प्रति लगाव केवल इन विषयों (अनुशासनों) के आंतरिक विकास का परिणाम नहीं है बल्कि, समान रूप से, उन बाह्य बदलावों का नतीजा है जो इन अनुशासनों के सामाजिक संदर्भों से संबंधित है। मात्रात्मकता को तरजीह देने के पीछे नव-उदारवादी समाज के उदय के संगी उन मूल्यों का काफ़ी हाथ है जो शिखर पर हैं और पात्रता या खूबियों के मानदंडों को तय करते हैं।

लेकिन शिक्षा-सिद्धांत ही अकेला नहीं है जिसका झुकाव 'उपलब्धिता' की ओर हुआ है। शैक्षणिक अनुसंधान की मुख्यधारा भी 'वास्तविक अनुसंधान' की रूप-तालिका (प्रतिमान) के प्रभाव में एक दिलचस्प विकास से गुज़री है, जैसा कि शोध के तरीकों पर हुई नयी चर्चा के दृष्टांतों से ज़ाहिर होता है, विशेषकर मात्रात्मक और गुणात्मक तरीकों की खूबियों के बारे में। आज जबकि गुणात्मक तरीकों को पहले की अपेक्षा अधिक संमान दिया जाता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि यह बहस समाप्त हो गई है। अकादमिक समुदाय में यह संदेह आम है कि कुछ भी हो समाजविज्ञानी शोध, जिसमें गुणात्मक शोध भी शामिल हैं, पर्याप्त रूप में ज्ञान की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते। इस संदेह की जड़ें निम्न मान्यता में देखी जा सकती हैं जो कि गलत है– हर चीज़ को समझने का अर्थ है किसी भी चीज़ को नहीं समझना। इस

प्रकार के विद्या-व्यसनी कानून जैसी व्याख्या और प्राकृतिक विज्ञान जैसी 'भविष्यवाणी' चाहते हैं। यह इच्छा प्रत्यक्षवादी प्रवृत्तियों के दार्शनिकों जैसी ही है जिनके लिए दर्शन वही होता है जो मान्य तार्किकता पर आधारित हो तथा जिसका अवधारणात्मक विश्लेषण के तरीकों द्वारा खंडन न किया जा सके (आवश्यक एवं यथेष्ट शर्तों सहित) और जो अनुमानों या निष्कर्षों तक पहुँचने के तर्कसम्मत सटीक नियमों को प्रतिपादित कर सके; या फिर जो ऐसा दर्शन चाहते हैं, जो सब कुछ आच्छादित करने वाली तात्विक व्यवस्था उपलब्ध करा सके।

लुडविग बिटगेनस्टाइन एक ऐसे लेखक हुए हैं जिन्होंने प्रत्यक्षवादी शोध प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना की है। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि कुछ लोगों ने सामाजिक विज्ञान में ख़ास किस्म की शोध की कमियों को उजागर करने के लिए उनके विचारों को काम में लिया है। बिटगेनस्टाइन के अनुसार, मानविकी विज्ञान में अपने कर्म के कारणों को समझने के लिए हमें पहले स्वयं मानवीय व्यवहार को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। दार्शनिक अन्वेषण से जो समझ बनती है, वह उसी प्रकार की होनी चाहिए जैसी (यद्यपि अपेक्षतया अधिक शोधपूर्ण) कि 'व्यवहार' के करने में होती है और उसका वर्णन भी आम बोलचाल की भाषा में ही होना चाहिए। ऐसी समझ को हमेशा व्यवहारकर्ता की समझ से निर्देशित होना होगा। इसको समझने में एक उदाहरण हमारी मदद कर सकता है। एक शोधकर्ता यह जानना चाहता है कि देश के एक भाग में हाशिए पर धकेले गए समुदायों में किशोरियों के गर्भधारण की दर दूसरे भाग से ज़्यादा क्यों है और फौरी तौर पर इस नतीजे पर पहुँचता है कि शिशु को पालना-पोसना और उसकी देखभाल करना उनकी मित्र-मंडली में उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ा देता है और उनके जीवन को अर्थ प्रदान करता है। शायद यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य होगा जिसे वे करना चाहेंगे। इस उदाहरण में सांख्यिकी का ख़ास महत्त्व इसलिए है कि इसकी मदद से 'निम्न उपलब्धि वाले युवा' और 'हाशिए पर स्थित समुदाय' की सुसंगत श्रेणियाँ बनेंगी। साथ ही शोधकर्ता भी जब तक यह नहीं समझेगा कि सार्थक जीवन का मतलब क्या है, परिकल्पना का निर्माण नहीं कर पाएगा। इसलिए इस काम के लिए शोधकर्ता की पूर्व समझ एक पूर्व शर्त हो जाती है। इसी बात को एक दूसरा उदाहरण और आगे ले जाता है। एक समय था जब आमतौर पर यह माना जाता था कि महिलाएँ पुरुषों से कम बुद्धिमान होती हैं। इस कारण कम बुद्धिमान लोगों को शिक्षा का उच्चतर स्तर उपलब्ध करवाना समय की बरबादी समझा जाता था। सभी प्रकार के परीक्षणों और मापदंडों जिसमें मस्तिष्क की क्षमता का मापन भी शामिल है, ने इसे तथाकथित रूप से साबित कर दिया था। यह तर्क आनुभविक प्रमाण, अंततः गलत इसलिए साबित हुआ कि (पूर्व की अपेक्षा) मापने के बेहतर तरीकों का प्रयोग किया गया और इसलिए 'आनुमानिक विधि' निर्दोष है, एक महत्वपूर्ण चुनौती से हमारा ध्यान हटा देता

है कि हम यह देखें कि क्यों इस उदाहरण में वास्तविकता को एक ख़ास अर्थ प्रदान किया गया। इस प्रकार की चुनौती हमें यह जानने में मदद कर सकती है कि एक प्रकार के मापदंडों को दूसरे मापदंडों के मुकाबले क्यों तरजीह दी जाती है। (पहले मस्तिष्क संबंधी और अब एक अमौखिक तार्किकता आधारित परीक्षण को)।

इन 'आनुभविक' तरीकों में बुनियादी गलती यह मान्यता है कि वास्तविकता में एक अर्थ अंतर्निहित है, जिसका हम अपने उपकरणों और तकनीकों से पता लगा सकते हैं। सिर्फ़ आवश्यकता इस बात की है कि हम उसे ऐसी भाषा में रखें जैसे कि वह वहाँ हमसे मिलने की प्रतीक्षा ही कर रहा था। उदाहरण के लिए यह वक्तव्य कि 'सैम्पल में से 42% ने माता या पिता दोनों से अलगाव की असामान्य अवधि को महसूस किया' यह मानकर दिया गया है कि इस प्रकार के अलगाव को बिना किसी समस्या के चिह्नित किया जा सकता है। इस पर प्रश्न खड़ा करने का आशय अधकचरे रचनात्मकतावाद के इस दावे को स्वीकार करना नहीं है कि सभी अर्थ शून्यता में से सृजित किए जा सकते हैं; यहाँ मात्र यह तर्क दिया जा रहा है कि जब हम वास्तविकता के किसी ख़ास हिस्से को संकल्पना का रूप देते हैं तो यह आवश्यक तौर पर विषयवस्तु की उन सीमाओं के अंदर ही होता है जिसके अर्थ से हम पहले से ही परिचित होते हैं। तब मानव स्वभाव के बारे में और क्या उपयोगी और करने योग्य है, इस बारे में विचारों का आना अवश्यम्भावी है। इसलिए हम बिना सीमाएँ बाँधे इस प्रकार के वक्तव्य नहीं दे सकते जैसे कि यह, 'आदिम लोगों तक सभ्यता पहुँचाने वाले यूरोपीय अन्वेषक थे'। हम पूर्व की पीढ़ियों की भांति नहीं हैं और जानते हैं कि 'सभ्य होना' क्या है और 'आदिम होना' क्या है और इस पर बहस कर सकते हैं, इसका प्रतिवाद कर सकते हैं। इसी तरह जब यह दावा किया जाता है कि किसी समस्या को हल करने का कोई विशिष्ट तरीका 'कारगर है' या कि शोध के द्वारा यह खोजा जाना चाहिए कि 'कारगर क्या है' (क्या है जो काम करता है, प्रभावी है) तो इसमें यह छिपाने का प्रयास कतई नहीं किया जाना चाहिए कि यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि 'क्या कारगर है' को कैसे परिभाषित किया गया है। इसके पीछे प्राय: वे तात्विक और नैतिक मान्यताएँ काम कर रही होती हैं, जिन्हें स्वीकार नहीं किया जाता, उदाहरणार्थ– इच्छित नतीजे प्राप्त करने का, वह नहीं, यह ही स्वीकार्य तरीका है।

यह देखना रोचक होगा कि एक तरफ शिक्षा-दर्शन ज़्यादा से ज़्यादा आनुभविक, इस अर्थ में होता जा रहा है कि यह उस तरीके के वर्णनों और विवरणों का प्रयोग करता है जो हमने निश्चित विषयों पर बोलने के लिए विकसित किए हैं। किसी ख़ास व्याख्यान में हम जो कहते हैं और तार्किकता के बीच मूल अंतर अब आमतौर पर स्वीकार नहीं किया जाता। जब किसी विशेष संस्कृति या ऐतिहासिक काल या व्याख्यान का उल्लेख करते हुए 'आंतरिक तार्किकता' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब भी उक्त विचार की

प्रतिबद्धता का स्वरूप साफ पकड़ में आ जाता है। दूसरी तरफ, यह जानना भी दिलचस्प होगा कि आनुभविक शोध जिसे शिक्षा के संदर्भ में 'स्वीकार्य' समझा जाता है पिछले कुछ समय में अधिक 'दार्शनिक' हो गई है। अनुभव-निरपेक्ष और अनुभव-सापेक्ष तथा 'तथ्य क्या है' और 'तथ्य क्या होने चाहिए' के बीच कोई ख़ास अंतर नहीं रह गया है। अतः मूल्यों पर भी उसी गंभीरता से विचार किया जाता है जैसा कि आधारभूत सूचनाओं से संबंधित तथ्यात्मक वक्तव्यों पर।

जैसा कि दर्शन में है, दर्शन की विभिन्न धाराओं, तरीकों और आंदोलनों, जो दार्शनिक विषयों की विभिन्न अवधारणाओं को लेकर कार्य कर रहे हैं, की भिन्नता पर कम ध्यान दिया जाने लगा है। (ख़ास तौर से कम-से-कम वहाँ तो ऐसा ही है, जहाँ भिन्नता बनाए रखने की प्रवृत्ति में ढील दे दी गई है)। आनुभविक शोध में यह विचार ज़ोर पकड़ रहा है कि किसी भी विशिष्ट केस के विभिन्न पहलुओं तथा उनके बीच संबंधों पर एक साथ विचार किया जाना चाहिए। इसलिए एक अर्थ में इसे दर्शन और आनुभविक शोध के बीच 'मिलन' की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ पुनः उन पूर्व मान्यताओं को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण होगा जिन पर आनुभविक शोध मुख्य रूप से आधारित हैं और जिस प्रकार के सिद्धांत प्रस्तुत करती हैं।

प्रायः विस्मृत मात्रात्मक एवं गुणात्मक शोध की पूर्व मान्यताएँ

सामाजिक विज्ञान किस रास्ते आगे बढ़े, यह बहस अभी स्पष्ट निष्कर्षों तक नहीं पहुँची है। संक्षेप में, यह बहस उन लोगों के बीच है जो तर्क देते हैं कि 'आनुभविक' प्राकृतिक विज्ञान की 'वैज्ञानिक विधियों' (मुख्य रूप से मात्रात्मक विधियाँ) की नकल की जानी चाहिए और दूसरे वे हैं जो संपूर्ण जाँच और समझ के लिए व्याख्या की भूमिका पर ज़ोर देते हैं (मुख्य रूप से गुणात्मक विधियाँ)। इस तकनीकी चर्चा के एक वास्तविक शोध का प्रारूप, एक ऐसा प्रारूप तैयार करने में, जिसने पूर्व मान्यताओं और धारणाओं की वस्तुस्थिति को जाँच-परख लिया हो, हमारे प्रयासों के लिए दिलचस्प निहितार्थ हैं– एक खगोलवेत्ता ने हाल ही में सूर्य पर आए तूफानों से संबंधित एक साक्षात्कार में बेझिझक कहा 'वहाँ जो हो रहा है उसे हम इस मायने में समझ पाने में असमर्थ हैं कि हम इसकी भविष्यवाणी कर सकें।' वास्तव में यह भविष्यवाणी की ही धारणा है जिसे बहस को समझने के लिए अति आवश्यक माना जाता है। तो अब हम थोड़ा गहराई में जाकर आनुभविक या मात्रात्मक शोध की विशेषताओं को देखेंगे। हालांकि सरसरी तौर पर मैंने नीचे जिन विशेष मुद्दों को अपनी टिप्पणियों में रेखांकित किया है, उनसे आमतौर पर सभी भलीभांति परिचित हैं, फिर भी मुझे डर है कि उनकी प्रासंगिकता को पूरी तरह से ज़ेहन में नहीं लिया जाता। पहले मैं यह दलील देना चाहूँगा कि मात्रात्मक शोध से संबंधित बुनियादी समस्याएँ हैं, जिन्हें ध्यान में रखना ज़रूरी है। मेरी दूसरी दलील यह होगी कि गुणात्मक शोध में भी उतनी ही महत्वपूर्ण कठिनाईयाँ आती हैं।

मात्रात्मक विधि में निश्चयात्मक तत्व को अनिश्चयात्मक से अलग किया जा सकता है। इसमें वैज्ञानिक स्पष्टीकरण का आधार निगमनात्मक प्रणाली होती है, जिसमें वह सब आ जाता है जिसे प्रकृति के एक या अधिक नियमों द्वारा समझना होता है। निश्चयात्मकतावादी की नज़र में यह तथ्य कि हम सब मामलों में सही भविष्यवाणी करने में असमर्थ हैं, कोई उसके विपरीत तर्क नहीं है बल्कि यह मान्यता है कि ऐसा इंसान की अज्ञानता और अन्य सीमाओं की वजह से है। अनिश्चयात्मकतावादी, ऐसा लगता है यह मानते हैं कि 'आवश्यक कारणों' में कम-से-कम कुछ हद तक तो सही स्पष्टीकरण की ताकत होती है जो 'यथेष्ट कारणों' में नहीं होती। आनुभविक विज्ञान की कारण-परिणाम अवधारणाओं के अनुसार हम तथ्यों (सामान्य और विशिष्ट दोनों) को स्पष्ट करने के लिए उन अभौतिक प्रक्रियाओं और अंत:क्रियाओं को प्रस्तुत करते हैं जिनसे वह अस्तित्व में आते हैं, पर इस तरह की यांत्रिकता का, स्पष्टीकरण की मजबूती के लिए, निश्चयात्मक होना ज़रूरी नहीं है; वे शुद्ध सांख्यिकीय हो सकती हैं, और उन्हें प्रभावित किया जा सकता है। इसलिए यह ज़रूरी नहीं कि किसी घटना विशेष का वैज्ञानिक स्पष्टीकरण सामान्य नियमों और पूर्ववर्ती स्थितियों को सख़्ती से लागू करने पर निर्णित होता हो। इस प्रकार आनुभविक अथवा तार्किक या कि सापेक्षता सिद्धांत के आधार पर प्रत्येक घटना के कारणों को देख पाने की संभावना के प्रति संशय ने एक ऐसे अनिश्चयवाद तक पहुँचा दिया है जो एक अधिक तार्किक विकल्प के रूप में वृहद् स्तर पर उपयोगी हो।

निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक दोनों ही विधियां कठिनाईयों से ग्रस्त हैं। न तो कारणात्मक स्पष्टीकरण, न ही सांख्यिकीय संभाविता की कारणात्मकता इस तथ्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकती है कि हम पक्के तौर पर कह सकें कि नयी परिस्थिति हमारे सामने उपस्थित नहीं होगी। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक स्पष्टीकरण को ऐसी स्थितिकीय पर्याप्तता की ज़रूरत होती है जो ऐसे आनुभविक प्रमाण पर आधारित हो कि कहा जा सके कि सचमुच कुछ हुआ था, जबकि अनुमान लगाना भविष्य में कुछ घटित होने से संबंधित होता है, जिसे कभी भी स्पष्टीकरण और भविष्यवाणी के बीच कालजनित विसंगति का नाम दिया जाता है। यदि निश्चयात्मकतावादी अपना प्रयास जारी रखता है तो वह जो विद्यमान है उसे स्वीकार कर लेता है जबकि इसी को तो सिद्ध किया जाना ज़रूरी था और इस तरह वह तार्किक चक्र में पहुंच जाता है। यह सच है कि कोई भी हो वह अंततः निश्चयात्मकतावादी के दावे को झूठा साबित नहीं कर सकता, जो कि मूलत: वास्तविकता पर आरोपित एक ढाँचा होता है। एक निश्चयात्मकतावादी (या कहिए सांख्यिकीय कारणात्मकता) पहले से ही इस विचार को स्वीकार कर लेता है कि भविष्य में क्या होगा इसके प्रति कोई भी विश्वस्त नहीं हो सकता। इसका मतलब यह हुआ कि विशिष्ट परिस्थिति में भविष्य में होने वाले परिणामों की घोषणा के सही सिद्ध होने की 50-50%

संभावना बनी रहेगी, जिसे और अधिक सटीक नहीं बनाया जा सकता है। सिर्फ़ एक काम यही हो सकता है कि पहले क्या हुआ था इसका वर्णन या स्पष्टीकरण देने की कोशिश की जाए और यह भी तभी तक किया जा सकता है जब तक कि स्पष्टीकरण के प्रचलित सिद्धांत और उनकी अवधारणाएँ आमतौर पर स्वीकार किए जाते हैं। अत: स्वयं विज्ञान के संदर्भ में कोई आधिकारिक व्यवस्था नहीं दी जा सकती कि निश्चयात्मकतावादी या अनिश्चयात्मकतावादी, शोध कार्य के लिए, सही रूपतालिका है। इसे कभी-कभी तात्विक परिकल्पना का नाम भी दिया जाता है। यह विचार ही स्वयं दर्शन के अनुशासन से आता है, न कि विज्ञान से।

किसी घटना का स्पष्टीकरण देने के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि उस घटना से संबंधित प्रासंगिक परिस्थितियों को इकट्ठा कर समग्रता की दृष्टि से एक समूह में रखा जाए और इनके विद्यमान होने की अवस्था के आधार पर उसके घटित होने की संभाविता को प्रस्तुत किया जाएँ इस केस में स्पष्टीकरण कोई तर्क नहीं है (कुछ नियमों के तहत् स्वीकार्य उस परिवेश और निष्कर्षों के साथ प्रस्तुत एक ढाँचा) बल्कि उस घटना के घटने से संबंधित प्रासंगिक परिस्थितिकीय अवस्थाओं का प्रस्तुतीकरण है और एक वक्तव्य भी कि इन परिस्थितियों में घटना घटने की संभाविता कितनी है। ये सब चीज़ें शैक्षणिक शोध के लिए उपयुक्त प्रतिमान के बारे में और इस बारे में भी कि हमें किस प्रकार का सिद्धांत चाहिए, गंभीर संदेह पैदा करती हैं। यदि मात्रात्मक शैक्षणिक सोच तार्किक समस्याओं से, जिनकी अभी समीक्षा की गई है, आवश्यक रूप से पीड़ित है तो इससे यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता कि शैक्षणिक प्रक्रियाओं के लिए यही तरीका अपनाया जाना चाहिए। कहने का आशय यह नहीं है कि इस तरीके को लेकर काम करें तो इससे रोचक नतीजे सामने नहीं आएँगे। कुछ चीज़ों के बारे में हम ज़्यादा जानते हैं (उदाहरणार्थ, किसी घटना की संभाविता कितनी है इस बारे में), लेकिन ऐसे शोध से समझने योग्य अन्य प्रासंगिक पहलू बाहर ही रह जाते हैं, क्योंकि वे मात्रात्मक डिज़ाइन या प्रतिमान के दायरे में सही नहीं बैठते। इस पर हम एक बार फिर गुणात्मक शैक्षणिक शोध के तरीकों को जाँचते समय बात पूरी करेंगे। पूर्व में दिए गए किशोरियों के गर्भ धारण और यूरोपियन अन्वेषकों के उदाहरणों को इस निष्कर्ष के दृष्टांतों के रूप में देखा जा सकता है।

निश्चय ही इसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने के अन्य रास्ते भी हैं। उदाहरण के लिए तार्किक प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ (जैसे– बोध, अर्थ और विधि में समानता से संबंधित पूर्व मान्यता); यह तथ्य कि बुनियादी नियम वास्तव में होते ही नहीं हैं। भौतिक और रसायन शास्त्र में भी नहीं; प्राकृतिक वस्तुओं या जीवित रहने के लिए अनिवार्य चीज़ों का अभाव (जैसे– पानी); कानून को तभी लागू करने की स्थिति बनती है जब वही परिस्थितियाँ हों (जिनके लिए कानून बना है) मात्रात्मक आनुभविक शोध में अनिश्चयात्मकतावादी अप्रोच के लिए कानून

संबंधी अंतिम बिंदु ज़्यादा बड़ी समस्याएँ खड़ी करता है, जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है। यदि कोई विशेष महत्वपूर्ण घटना (उदाहरण के लिए 'प्रहार') 31 कारकों का परिणाम होती है और हम इन कारकों के संभावित प्रभाव का कारणात्मक समजातीय समूह बनाकर अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें ऐसे 2 (चार अरब से ज़्यादा) समूहों की ज़रूरत होगी, जिनमें से बहुत से खाली होंगे। मात्रात्मक आनुभविक शोध चक्रों में घूमती रहती है क्योंकि यह 'आउटपुट' यानी भविष्यकथन पर आधारित होती है– क्या 'यह कारगर' है? यह प्रश्न निश्चयात्मकतावाद के केस में 'खाली' है। लेकिन विज्ञान में शोध कैसे होते हैं, इसकी यह तार्किक पुनर्निर्मिति सिर्फ़ प्राकृतिक विज्ञान पर ही लागू नहीं होती, बल्कि सामाजिक विज्ञान पर भी होती है। मैंने 'व्याख्या' जैसी अवधारणा के द्वारा इस निष्कर्ष को धुंधला नहीं होने दिया है। इसके स्पष्ट कारण हैं कि मानव व्यवहार का इस प्रकार अध्ययन क्यों नहीं किया जाना चाहिए।

अब हमें यह देखना चाहिए कि क्या सामाजिक विज्ञान के गुणात्मक तरीके, जिनमें व्याख्या की ज़रूरत होती है, बेहतर स्थिति में हैं। इस विमर्श में डोनाल्ड पेल्किंग होर्न का यह प्रयास विशेष रूप से प्रासंगिक है जिसमें उन्होंने 'वर्णन का विश्लेषण' और 'विश्लेषण का वर्णन' में अंतर किया है। वर्णन के विश्लेषण में विभिन्न मसलों के सामान्य लक्षणों और विशिष्टताओं को ढूँढ़ा और चिह्नित किया जाता है और इनका उपयोग उन मसलों को विस्तृत श्रेणियों के अनुसार परिभाषित करने के लिए किया जाता है। विभिन्न अनुभवों की विशिष्टताओं को जो उनमें समान रूप से मौजूद हैं, चिह्नित करने से संज्ञानात्मक अवधारणात्मक ढाँचा निर्मित किया जा सकता है। रूप–तालिका के विश्लेषण का मकसद केवल श्रेणियाँ ढूँढ़ निकालना और उनका वर्णन करना मात्र नहीं है बल्कि उन श्रेणियों के अंतर्संबंधों का वर्णन करना भी है। जबकि 'वर्णनात्मक विश्लेषण' में आँकड़े सामान्य तौर पर वर्णनात्मक रूप में नहीं होते। इसके बजाय जानकारी घटनाओं और कार्यकलापों से प्राप्त होती है, जिन्हें शोधकर्ता इस तरह व्यवस्थित करता है कि उनसे यह मालूम हो सके कि 'प्लॉट' (कथानक) के विकसित होने में उनकी क्या भूमिका रही है। कथानक या 'प्लाट' वर्णन की कथ्य–रेखा होता है अर्थात् यह एक ऐसा ढाँचा होता है, जो बताता है कि विभिन्न घटनाओं का वर्णन में क्या योगदान है। इसका लेखन विश्लेषणात्मक रूप से आगे बढ़ता है अर्थात् सूचनाओं (डाटा) और कथानक के बीच द्वंद्वात्मक स्थिति। परिणामतः जो वर्णन होगा, वह ऐसा होना चाहिए कि सूचनाओं में सही बैठ जाने पर उसका व्यवस्थित और महत्वपूर्ण होना उभर कर सामने आए, जो कि सूचनाओं में दृश्य नहीं था। नतीजे में जो चीज़ सामने आए उसमें 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टि से दिया गया यह विवरण ज़्यादा न हो कि घटना कैसे घटी बल्कि वह कथ्य विषयवस्तु के वर्णन के निर्माण की इकाइयों की श्रृंखला हो। 'वर्णनों के विश्लेषण' में वर्णन ही ज्ञान का स्रोत होते हैं,

जबकि 'वर्णनात्मक विश्लेषण' में वर्णन शोध का परिणाम होते हैं। कुछ लेखकों का विचार कि शोध द्वारा उपलब्ध करायी गई समझ इस प्रकार की होनी चाहिए जैसी कि 'व्यवहार' में देखने को मिलती है .... अर्थात् इसमें वर्णन आम बोलचाल की भाषा में होना चाहिए और एक विशेष प्रकार की पुनर्निर्मिति जो, शायद कहा जा सकता है, दार्शनिक व्याख्या के समीप हो।

प्रश्न है कि वर्णनात्मक स्थिति में स्पष्टीकरण की समस्या से कैसे निबटा जा सकता है? जहाँ तक इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि तार्किक क्रम के सिद्धांत संभव नहीं हैं और हम सिर्फ़ क्रम का वर्णन कर सकते हैं, वहाँ तक तो कोई कठिनाई नहीं है, चाहे वे तथ्य नए हों या काल-क्रम में हों। लेकिन ऐसी स्थिति में इन्हें भूतकाल में ही प्रयोग किया जा सकता है, भविष्य काल में नहीं। अवश्य ही आप इसका वर्णन कर सकते हैं कि स्थिति कैसी है (मतलब कैसी थी) लेकिन इस प्रकार के वर्णन का फ़ायदा क्या है? समझने की दृष्टि से बुनियादी तौर पर किसी भी वर्णन का निम्न ढाँचा उभरेगा– चीज़ें इस तरह रखी जाती हैं, और समझ चीज़ों को एक-दूसरे की बगल में रखने से ज़्यादा कुछ नहीं है– अर्थात् समझ तथ्यों की आकस्मिक समीपता को ज़ेहन में लेना और पुनः प्रयोग की क्षमता ही है। जब किसी भी प्रकार की समझ बनती है, और उसके बाद जब उसे प्रस्तुत करते हैं तो वह आवश्यक रूप से उन अवधारणाओं के रूप में होती है जो हमारे पास हैं, और शोधकर्ता इन्हें केवल एक व्यवस्थित क्रम में रखता है जिसके लिए वह संतोषजनक तर्क देता/देती है। ऐसी समझ या तो जानती है कि हम पहले से क्या जानते हैं या फिर खोज में मिली तथ्यों की आकस्मिक व्यवस्था को 'समझ' के नाम का लेबल लगा देती है और इस तरह की कारणात्मक समझ कथित रूप से यह तय करने में मदद करती है कि हमें क्या करना है। मात्रात्मक शोध की कम-से-कम इस सीमा तक तो यही नैतिकता जान पड़ती है कि इसके परिणाम को आउटपुट-निर्देशित संदर्भ में प्रयोग किया जाता है (भविष्य-कथन के लिए या घटनाओं को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने के लिए)। संक्षेप में, मात्रात्मक और गुणात्मक शोध दानों ही, जब कारणात्मक आनुभविक भाषा में संकल्पित किए जाते हैं तो उन चक्रों में गोल-गोल घूमते रहते हैं जिनका हमें बोध नहीं हो पाता। दोनों में से कोई भी विश्वस्त तर्क नहीं देता कि क्या करना चाहिए, यह तय करने के लिए उनका तरीका अन्य तरीके से बेहतर है। इसके बावजूद वे ऐसा प्रभाव छोड़ते हैं कि शोध को मान्य होने के लिए इन्हीं में से कोई तरीका अपनाना पड़ता है या दोनों का मिला-जुला रूप।

आनुभविक शोध और शिक्षा

अब तक मैंने यह तर्क देने की कोशिश की है कि क्या करना चाहिए, इसमें हमें कारणात्मक स्पष्टीकरण से कोई मदद नहीं मिलती। न तो निश्चयात्मक और न ही अनिश्चयात्मक विधि से हम विश्वस्त हो सकते हैं कि अ की जगह

ब को क्रियान्वित करें तो क्या होगा? पर्याप्त जानकारी ही उपलब्ध नहीं है (और कभी होगी भी नहीं) और हम देख चुके हैं कि यदि गुणात्मक शोध की तरफ रुख करें यानी 'समझ' की तरफ तो भी गतिरोध से बाहर जाने का कोई रास्ता नहीं है क्योंकि इसमें भी भूतकाल से कारणात्मक संबंधों की भूमिका होती है। यह विधि उस समस्या या घालमेल को, जो हम अनुभव करते हैं गायब तो कर सकती है लेकिन यह तय करने में मदद नहीं करती कि क्या करना चाहिए, यदि इससे हमारा आशय यह है कि कुछ करें ताकि विशिष्ट परिणाम प्राप्त हो। फिर भी इस प्रकार की जाँच-पड़ताल हमारे ज्ञान के आधार का निर्माण अपरिहार्य रूप से करती है। चिकित्साशास्त्र इस प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है। क्योंकि बायोकेमिकल स्तर पर समझते हैं कि शरीर कैसे काम करता है, हमारे पास बीमारियों के बेहतर इलाज हैं। वास्तव में विज्ञान अनेक महत्वपूर्ण तरीकों से बेहतर पुल और इमारतें बनाने में हमें सक्षम बनाकर हमारी मदद करता है। लेकिन शैक्षणिक संदर्भ में क्या किया जाए, इससे संबंधित मसले अलग किस्म के हैं। यदि मुझे कोई पुल पार करना है तो यह जानना प्रासंगिक होगा कि लाखों या करोड़ों में से केवल एक संभावना यह हो सकती है कि पुल ढह जाए बावजूद इसके कि अंततः तो सभी पुल एक दिन टूटकर गिर पड़ेंगे, और कोई भी पुल हमेशा के लिए बचा नहीं रह सकता। लेकिन यदि शैक्षणिक शोध में आनुभविक शोध ने भी उन्हीं मानदंडों को अपनाया जो एक इंजीनियर अपनाता है तो उसका हश्र विफलता को स्वयं ही न्योता देने जैसा होगा। तब वास्तविकता की ओर ले जाने वाला यह सेतु टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाएगा। समाज वैज्ञानिक आमतौर पर इस तथ्य से संतोष कर लेते हैं कि शोध में बहुत से चर (वेरिएबल्स) होते हैं और इसलिए और शोध की ज़रूरत बनी रहती है। उनका अध्यवसाय प्रभावित करता है क्योंकि अधिकांश शोधों में उनकी रूप-तालिका का मॉडल अपने उद्देश्य प्राप्त करने में सफल नहीं होता है। इसका यह आशय नहीं है कि समाज वैज्ञानिकों के पास विवेकशील प्राणी होने के नाते शैक्षणिक अभ्यास हेतु देने के लिए कुछ भी नहीं है, तथ्य यह है कि उनका सूक्ष्म ज्ञान और अंतर्दृष्टि कुछ नया उद्घाटित करने वाली या नियम के रूप में कुछ निर्धारित करने वाली होने के बजाय वर्णनात्मक होती है। अवसर आने पर ही नहीं बल्कि उससे अधिक बार यह दावा किया जाता है कि वर्तमान मनोवैज्ञानिक और शैक्षणिक शोध का बहुत बड़ा हिस्सा अनुपयोगी होता है। इसे एक ऐसे मन बहलाऊ खेल की तरह देखा जाता है जो लोगों को व्यस्त रखता है। यह आपको शतरंज की तरह या उन लोगों की तरह बांधे रख सकता है जिन्हें टिकट इकट्ठा करने का शौक होता है लेकिन अंत में इससे आप कुछ नहीं कर सकते। यह बेकार और निरर्थक होता है।

निश्चित ही ऐसे अन्य कारण हैं जिन्हें हम परिणाम आधारित किसी एकमात्र गतिविधि का आधार नहीं बना सकते। ये कारण नैतिक प्रकार के हैं। फिर, आवश्यक रूप से शिक्षा का संबंध

उन लोगों से है जो अपने लिए दुनिया को समझना चाहते हैं और यह कि उनका दुनिया में क्या स्थान है। यह ऐसी चीज़ है जिसे व्यक्तियों को 'करना' होता है और अन्य कोई उनके लिए यह काम नहीं कर सकता, कम-से-कम ऐसे मामलों में जो उनके लिए सबसे ज़्यादा महत्त्व के हैं। सीखना एक क्रियाशील प्रक्रिया है पर तब नहीं जब लोगों के साथ मात्र कुछ घटित होता है। इसके बिना अवधारणाएँ जैसे 'किसी चीज़ का ध्यान रखना' या 'किसी चीज़ की सार्थकता समझना' अर्थपूर्ण नहीं रहेंगी। इस कारण, ऐसे शोध प्रतिमान जो भूतकाल का निर्णायक (निर्भरता) अर्थ में प्रयोग करते हैं, यह पता लगाने में मदद नहीं कर सकते कि अमुक छात्र भविष्य में दुनिया के बारे में अपनी समझ कैसे बनाएगा। इसका मतलब यह है कि 'कौशल आधारित तरीका' शैक्षणिक संदर्भ में पहले सिरे से ही गलत है क्योंकि किसी चीज़ की सार्थकता समझना एक 'कौशल हो सकता है।', यह संकल्पना ही उचित नहीं है। इसका आशय फिर यह भी होता है कि पढ़ाने जैसी क्रिया या 'प्रैक्टिस' में सिर्फ़ कौशल ही नहीं है किसी चीज़ की सार्थकता को समझने का तरीका किसी दूसरे को इस उम्मीद में ही बताया जा सकता है कि वह उसके लिए मददगार साबित होगा सिर्फ़ इतना भर करने के लिए। बिटगेनस्टाइन ने इस प्रकार के हस्तक्षेप को 'स्मरणक एकत्रित करना' (assembling reminders) कहा था।

कारणात्मकता, चाहे वह निश्चयात्मक हो अथवा संभाव्य, का उपरोक्त मेल नहीं बैठाया जा सकता। गुणात्मक शोध का भी नहीं जिसकी पूर्व मान्यताएँ कारणात्मक और वर्णनात्मक क्षेत्र में आती हैं। इन सब प्रयासों से उत्पन्न सिद्धांत, शैक्षणिक कार्य में जो अत्यंत महत्वपूर्ण है और दांव पर लगा है उसे समझने के लिए पर्याप्त नहीं लगते। वे अनुप्रयुक्त विज्ञान के विचार को अंगीकार करते हैं जिसमें शैक्षणिक गतिविधियाँ 'समझ के एक प्रकार' का परिणाम होती हैं, जो मूलत: आनुभविक हैं और वे उस हस्तक्षेप के परिणामों के महत्त्व को नज़रअंदाज़ करते हैं जो भविष्य के क्रियाकलापों की ओर अभिमुख हैं। जैसा कि एक अच्छी जासूसी कहानी में होता है कि जासूस न्यायालयिक सामग्री, गवाहों के बयान और अंत:प्रेरणा के आधार पर जो घटना हुई उसका पुनर्निर्माण करता है, भाग्य भी साथ दे देता है और समस्या हल हो जाती है। लेकिन क्या यह तरीका हमें इस योग्य बनाता है कि हम कल उठने वाली समस्याओं से निबटने के तरीके के लिए अंतर्दृष्टि प्राप्त कर पाएँ या कि हमें आज कौन से विकल्प चुनने होंगे। ज़रूर, शायद यह संभव हो। लेकिन नयी परिस्थिति में सुराग ढूँढ़ने में यह रुकावट पैदा कर सकता है। क्योंकि पहले जिसने हमें इतना ज़्यादा प्रभावित किया है, उससे हम दूर नहीं हो सकते और यदि हमें ऐसी शोध की आवश्यकता नहीं है जिसका उद्देश्य बुनियादी तौर पर एक ख़ास आउटपुट को नियंत्रित करना हो तो फिर हमें क्या चाहिए? या कि मैं सच में यह तर्क दे रहा हूँ कि कोई फ़र्क नहीं पड़ता हम जो भी करें?

नहीं, मैं ऐसा बिल्कुल नहीं कर रहा हूँ, लेकिन मैं सोचता हूँ कि हमें परावलम्बी रसास्वादन छोड़ देना चाहिए और आनुभविक किस्म के सिद्धांत के साथ जुड़े शक्ति के काम भी। क्योंकि शिक्षा का संबंध विशिष्ट व्यक्तियों से है (शिक्षक, छात्र, माता-पिता, बच्चा) और ख़ास संदर्भों में; शैक्षणिक समझ जो हमसे चाहती है, वह यह कि दुनिया की समझ बनाने की मानव की आवश्यकता की पूर्ति करने की हमारी तैयारी हो। अतः हमें ऐसे सिद्धांत की ज़रूरत है जो इस माँग के साथ न्याय करे और शिक्षा को ही खतरे में न डाल दे।

ऐसी स्थिति में सबसे अच्छा काम जो किया जा सकता है, वह यह पता लगाना है कि किसी की दुनिया की समझ कैसे बनती है? कुल मिलाकर स्थितियाँ कैसी हैं, इसका सामान्य ज्ञान इस काम के लिए प्रासंगिक होगा। आइए इसे नाम दे देते हैं 'स्थानीय सामान्य विवेक'। इस बारे में कि घटनाएँ जिन पर हमारा बस नहीं है कैसे दुनिया से और हमसे पेश आती हैं: 'सेलफोन' और 'चैट रूम' ने कैसे हमारी दुनिया को बदल दिया है, रेफ्रीजरेटर, टेलिविजन, यातायात के साधन, पशुओं के अधिकार की बात और 9/11 तो ऐसा पहले ही कर चुके हैं। इस सीमा तक तो भविष्य पर काबू पाने में वर्णनों द्वारा मदद मिलती है; कुछ ख़ास क्षेत्रों में कारणात्मकता की समझ भी काम करती है। लेकिन यदि कोई निश्चितता नहीं है, हमें नहीं मालूम है कि शिक्षा में विशिष्ट नतीजे सुनिश्चित करने के लिए क्या कदम उठाए जाएँ तो हम कैसे तय कर सकते हैं कि शैक्षणिक शोध में काम करने का सबसे प्रभावी तरीका क्या है? एक नैतिक या कठिन परिस्थिति में क्या-क्या निहित होता है, इस पर गंभीरता से विचार करने के लिए हम निम्न घटनाओं को लेते हैं– समीचीन आदर-सत्कार और विश्वास प्राप्त होने पर उसका हम क्या करेंगे? कठिन परिस्थिति में व्यक्तियों के साथ न्याय के लिए क्या ज़रूरी होगा? ऐसी परिस्थितियों में कविता, कला या नपी-तुली तार्किकता का प्रयोग किया जा सकता है। इससे एक मायने में विधि या तरीके पर चर्चा समाप्त हो जाती है। अंत में, इस कारण कि शिक्षा पर हमारी समझ क्या है, यही इसका निष्कर्ष होगा। अतः जो तरीके ढूँढ़ने होंगे वो यह या वह तरीका नहीं होगा। बिटगेनस्टाइन ने कहा था कि जिस प्रकार विभिन्न चिकित्साएँ होती हैं, उनके विभिन्न तरीके भी होते हैं।

लेकिन 'वर्णन' एक और तरह से भी दिलचस्प हो सकता है। बिटगेनस्टाइन ने सुझाव दिया था कि हमें सिद्धांत बनाने से बचना चाहिए क्योंकि वे शोध में मामलों की भिन्नता को आगे लाने में सक्षम नहीं हैं और हमेशा ही तथ्यों में जितनी समरूपता पाई जाती है उससे अधिक समरूपता वे पहले से ही मान लेते हैं। इससे आगे उन्होंने सुझाया कि हर चीज़ का स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता या उसे समझाया नहीं जा सकता और उन्होंने विभिन्न प्रकार की समझ की ओर ध्यान आकर्षित किया। ऐसे में इस प्रकार के प्रश्न पूछना महत्वपूर्ण हो जाता है कि इंसान के लिए महत्वपूर्ण क्या है? और वह क्या है जो

अन्य किसी दूसरी चीज़ के लिए आवश्यक रूप से उपयोगी हुए बिना प्रासंगिक हो? बिटगेनस्टाइन के अनुसार समझ और स्पष्टीकरण में महत्वपूर्ण अंतर शोधकार्य में संलग्न लोगों पर पड़ने वाले भिन्न प्रभावों में दिखता है:

वर्णन हम पर जो प्रभाव छोड़ता है, उसकी तुलना में स्पष्टीकरण डांवाडोल स्थिति में होता है। प्रत्येक स्पष्टीकरण एक परिकल्पना है। लेकिन परिकल्पना का स्पष्टीकरण उस व्यक्ति की कुछ ही मदद कर पाएगा जो प्यार के कारण विचलित है। यह उसे शांत नहीं करेगा।

मानविकी विज्ञान के शोधकर्ता इससे घबरा जाएँगे। इस समय शोध के 'वर्णन रूपी अनुसंधान' की अपेक्षा, 'व्याख्या रूपी अनुसंधान' अधिक किए जा रहे हैं। इसी प्रकार, कहने की ज़रूरत नहीं कि आज का अकादमिक मनोविज्ञान, जो पॉपर की विचारधारा के अनुसार चल रहा है, को उस कार्यक्रम से सामंजस्य बैठाने में बहुत दिक्कत होगी, उसी भांति जब 50 वर्ष पूर्व भी यह उसे पचा नहीं पाया था। उन शैक्षणिक शोधकर्ताओं के बीच में भी जो मात्रात्मक और गुणात्मक शोध डिज़ाइनों की वैधता को स्वीकार करते हैं, व्याख्या रूपी अनुसंधान को प्राय: एक समस्या के रूप में देखा जाएगा। यह पूछा जाएगा कि इन डिज़ाइनों का आशय यदि ऐसे सैद्धांतिक तरीके (अप्रोच) की निर्मिति नहीं है जो भविष्य के मसलों के परीक्षणों में उपयोगी हो, तो और क्या है? क्या फिर हम यह समझें कि सब सिद्धांत फालतू की चीज़ हैं? नहीं, बात ठीक इसके विपरीत है। जैसा कि मैं संकेत दे चुका हूँ कि, किस प्रकार के शैक्षणिक सिद्धांत की हमें ज़रूरत है, यह सोचते समय हम शिक्षा के अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू को भूल जाते हैं। इसे शिक्षा की विशेषताओं को बताते समय मैंने 'अपने लिए समझ बनाना' के रूप में संप्रेषित कर दिया था। इसके बारे में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है यदि दर्शन में सुकरात की मिसाल को हम गंभीरता से लें।

दर्शन करने का नेहामास का वैकल्पिक तरीका

अपनी पुस्तक 'जीने की कला' (दी आर्ट ऑफ लिविंग) में नेहामास का उद्देश्य जीवन में दार्शनिकता के लिए स्थान उपलब्ध कराना है, जो एक विकल्प तो हो पर ज़रूरी नहीं कि प्रतिस्पर्धात्मक हो, उस तरीके के लिए जिसमें हम आमतौर पर दर्शन को काम में लेते हैं, उसे आचार-व्यवहार में उतारते हैं। वे कहते हैं कि कुछ दार्शनिक सामान्य और महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ना चाहते हैं बिना इस पर विश्वास किए कि उन उत्तरों का उस व्यक्ति की किस्म से सीधा संबंध है जो वे बनाना चाहते हैं। अन्य लोग यह मानते हैं कि ज़रूरी यह है कि सवालों के जवाब सही हैं या नहीं और यह कि सामान्य तौर पर सही विचार सही इंसान बनाते हैं। नेहामास का विचार है कि जो व्यक्ति विशिष्ट सिद्धांतों को अपनाने के परिणामस्वरूप अपने आत्म का निर्माण करता है, वह सिर्फ़ उसकी जीवनी को निर्मित करने वाली सामग्री नहीं है, बल्कि वह तो एक दार्शनिक और साहित्यिक

उपलब्धि है। इस प्रकार का आत्म एक प्रकार का कच्चा खाका है जिसे इसी मकसद से दूसरे भी अपना सकते हैं, नज़रअंदाज़ कर सकते हैं या अस्वीकार कर सकते हैं, जैसे-जैसे उनका अपना आत्म, अपना स्वरूप ग्रहण करता जाता है। यह दार्शनिक उपलब्धि इसलिए है क्योंकि इस प्रक्रिया में सृजित आत्मा की विषय-वस्तु और प्रकृति ऐसे मुद्दों पर बने विचारों पर निर्भर करती है जो परंपरागत रूप से दार्शनिक समझे जाते हैं, यह साहित्यिक है क्योंकि उन दार्शनिक विचारों में परस्पर संबंध केवल व्यवस्थित तार्किक अंतर्संबंधों का मामला नहीं है बल्कि इसके केंद्र में एक शैली (जीवन जीने की) की बात भी है।

यह प्रश्न उन विचारों को एक साथ रखने के बारे में है ताकि उनमें नितांत तार्किक संबंध न हो तो भी, उनसे एक मनोवैज्ञानिक और व्याख्यात्मक आधार प्राप्त हो, जिसके बल पर उन्हें एक सुसंगत लक्षणों की इकाई में शामिल किया जा सके। यह कहना उचित होगा कि वे सब विचार एक व्यक्ति में भी हो सकते हैं अर्थात् दूसरी तरह से कहें तो इस तरह के विचारों के एक साथ होने से एक विशेषता का निर्माण होता है, इसी प्रकार से जैसे साहित्यिक चरित्र निर्मित होते हैं, जिनमें वह सब शामिल होता है जो वे उन साहित्यिक कृतियों में कहते और करते हैं, जिनमें उन्हें प्रस्तुत किया जाता है। जीने की कला के दार्शनिक प्राय: दोहरी और अधिक पेचीदा भूमिका निभाते हैं, वे दोनों ही होते हैं, उनकी रचनाओं द्वारा गढ़े गए पात्र भी और उन रचनाओं के लेखक भी जिनमें ये पात्र मौजूद होते हैं। सृजनकर्ता और सृजित पात्र ये दोनों एक ही व्यक्ति होता है।

नेहामास यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि ऐसी कोई एकमात्र जीवनशैली नहीं है जो सबके लिए सर्वोत्तम हो और दार्शनिक जीवन जीने के अनेक प्रशंसनीय तरीकों में एक हो (जीने की कला के दार्शनिक एक जीवनशैली को केंद्रीय विषय बनाकर सुस्पष्ट और सटीक भाषा में प्रस्तुत करते हैं)। उनकी रचना में जिस जीवन को प्रस्तुत किया जाता है, उसकी रचना वे दार्शनिक जीवन जीने से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर चिंतन-मनन के बाद करते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जीने की कला व्यावहारिक होने के साथ-साथ कुछ मायनों में राजनीतिक भी है क्योंकि इसका संबंध उससे जो पढ़ाया जाता है, एक अभ्यास है जो सर्वप्रथम लेखन से प्राप्त होता है। वास्तव में, यह कल्पना करना कठिन है कि कोई व्यक्ति बिना लेखन के अपनी जीने की कला को कैसे प्रस्तुत कर सकता है क्योंकि जटिल विचार जिनकी इस कला को ज़रूरत होती है, अन्य किसी तरह अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते। निश्चय ही सुकरात इसका अपवाद था लेकिन फिर यह भी तो है कि उसके विचार प्लेटो की रचनाओं का आधार बने और जब कोई इसके बारे में विश्वस्त नहीं है और इसे सिखाता नहीं है, उसकी कला दीर्घावधि में एक मॉडल का रूप नहीं ले सकती। जीने की कला के रूप में दर्शन का उद्देश्य निश्चित ही जीना है लेकिन यहाँ ऐसे जीवन की ज़रूरत है जिसका

अधिकांश भाग लेखन के लिए समर्पित हो। इस प्रकार जीने की कला 'नैतिकतावादी' होती है। 'सार्वभौमिकता' भी इसमें सबसे कम होती है। उसी भाव से जैसे कि सुकरात, माइकेल द मोन्टेन, फ्रेडरिक नीत्शे और माइकेल फूको ने जीने का एक तरीका प्रस्तुत किया जिसे केवल वे स्वयं या शायद कुछ अन्य ही अपना सके। उनका विश्वास था कि वे जो उनका अनुकरण करना चाहते हैं, अपनी निजी जीने की कला और अपना आत्म-विकसित करें, यदि कोई ऐसा करता है तो उसका मॉडल दूसरों के मॉडलों से भिन्न होगा। इस सब में व्यंग्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है विशेष रूप से सुकराती शैली में।

यह विचार शैक्षणिकता से भरा हुआ ही नहीं है बल्कि स्वयं शिक्षा दर्शन के लिए भी बहुत प्रासंगिक हो सकता है। शैक्षणिक शोधकर्ता सामान्य रूप से और शिक्षा दार्शनिक विशेष रूप से बड़ी सीमा तक अपने लेखन कार्य से ही जीवन-यापन करते हैं, और अपने संपूर्ण जीवन में बहुत सारा समय लेखन में लगाते हैं। इस विचार का एक अच्छा कथन है कि 'दर्शन जीने के बारे में होता है' तो शिक्षा-दर्शन शिक्षा के बारे में होता है। लेकिन एक महत्वपूर्ण अंतर है, यद्यपि दार्शनिक जीवन ज़िंदगी जीने का एक तरीका है, यह स्पष्ट नहीं है कि शिक्षा-दर्शन को भी उसी प्रकार 'शिक्षा के तरीके' के रूप में लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि जीने के तरीके के रूप में अपने आपको शिक्षा (के कार्यों) में व्यस्त रखता है, सार्थक है। इन विचारों के बीच में सहसंबंध बहुत से प्रश्न भी पैदा करते हैं। क्या इस प्रकार का नैतिकतावादी जीवन संभव है? क्या यह ऐसी चीज़ है जिसे आजकल शिक्षा के उद्देश्य के रूप में किया जा सकता है? और क्या यह शिक्षा दर्शन के लिए एक उपयोगी मॉडल हो सकती है। (यदि हाँ, तो किस हद तक)?

क्या सब सिद्धांत उपलब्ध हैं? व्यंग्य के बारे में एक स्मरण

जीने की कला का विचार अर्थात् अपने स्वयं के आत्म को विकसित करना (और जहाँ तक गुण का संबंध है वैसे शिक्षक हैं नहीं), प्लेटो सुकरात के समय का है। दिलचस्प बात यह है कि नेहामास विभिन्न तरीके प्रयोग में लेता है जिनमें सुकरात के चरित्र को विकसित किया जाता है। सुकरात ने कहा था कि वह अनभिज्ञ है और यह मानने से भी इंकार कर दिया था कि वह 'शिक्षक' है। उसने छात्रों को उन प्रश्नों के उत्तर नहीं बताए जो उन्होंने उससे पूछे थे, जबकि वह इन उत्तरों को जानता था। बजाय इसके, उसने इनके उत्तर 'खोजने' के लिए छात्रों को उकसाया ताकि वे अंतर्दृष्टि (किसी वस्तु की वास्तविक प्रकृति को समझने की क्षमता) विकसित कर सकें। शुरू से संवादों में (चारमिडेस लाचेस, यूनाइफ्रोल) वह शब्द के प्राचीन अर्थ में कट्टरवादी था। उसका विश्वास था कि वस्तुओं की प्रकृति की सत्यता को जानने की ज़रूरत है, विशेष रूप से गुणों को और यह ज्ञान उसके पास है। उसका व्यंग्यात्मक आग्रह कि न तो वह यह जानता है कि गुण

क्या है और न ही उसमें यह सिखाने की क्षमता है, एक ऐसी यांत्रिकता में बदल जाता है जो निरुत्साहित छात्रों को प्रेरित करने का काम करती है। सुकराती व्यंग्योक्ति तथा प्लेटो की रचना में दोहरी भूमिका होती है। यह संवादों की विषयवस्तु का हिस्सा होती है और सुकरात के चरित्र को और दूसरे लोगों के साथ इसके संबंधों को निरूपित करती है, किंतु यह एक औपचारिक ढाँचा भी है। ख़ासतौर से जब हम सुकरात को उससे वार्तालाप करने वालों को प्रभावित करने का प्रयास करते हुए देखते हैं, नेहमास का कहना है, हम प्लेटो द्वारा प्रभावित किए जा रहे होते हैं।

ज़ाहिर है, व्यंग्योक्ति में विश्वास करने वालों की उनकी अपनी ही युक्ति में फंसने की संभावना अधिक होती है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि वे शिकार से श्रेष्ठ हैं (यह बात केवल व्यंग्योक्ति के सर्वाधिक सरल मामलों के लिए ही सही है। उसका उल्टा कहना जो आप कहना चाहते हैं)। दूसरे प्रकार की व्यंग्योक्तियाँ जैसे कि नाटकीय व्यंग्योक्ति, भाग्य अथवा परिस्थितियों से संबंधित व्यंग्योक्ति, रूमानी व्यंग्योक्ति और वक्तृता की व्यंग्योक्ति में जो कहा जाता है और जो कहने का आशय होता है इसके बीच काफ़ी पेचीदा संबंध होता है। संगोष्ठी अथवा सिंपोज़ियम में (ख़ास तौर से ऐल्सीबियाडेस और सुकरात के बीच जो घटना हुई उसमें) एक और अधिक दिलचस्प उदाहरण मिलता है। इसमें शब्द जो सुझाते हैं हम उससे भिन्न हैं, यह बहाना बनाने की छूट जो देती है उसे व्यंग्योक्ति के रूप में देखा जाता है; वास्तव में हम जो हैं या वास्तव में हम कोई हों यह तय करने के दबाव के बिना हम अपने खेल को खेल सकते हैं। व्यंग्योक्ति को दो-मुँहे वक्ता की दरकार होती है और दोगले श्रोताओं की—इससे श्रोताओं को आपके मंतव्य की, उनकी अपनी व्याख्या के अनुरूप काम करने की अनुमति मिल जाती है। उनकी जो भी समझ बनी हो, ज़रूरी नहीं कि यह वो समझ हो जो आपके शब्दों से बनी हो। इसलिए क्या एल्सीबियाडेस के प्रस्ताव का सुकरात द्वारा व्यंग्यात्मक अस्वीकार गुण नहीं बल्कि लचीलापन प्रस्तुत करता है, यह मामला अनिर्णीत है। व्यंग्यात्मक होने के कारण सुकरात ने आशय और उद्देश्य को छिपाया है। इस गहन अर्थ में व्यंग्योक्ति हमेशा ही स्पष्ट सत्य को नहीं छिपाती, वरन् व्यंग्योक्ति का प्रयोग स्वयं व्यंग्योक्ति की तरफ भी किया जा सकता है। यह बच निकलने या साहस अथवा दृढ़ विश्वास की कमी की बात नहीं है बल्कि इस बात की स्वीकृति है जैसा कि कई बार होता है जब हम विश्वस्त नहीं हो सकते, इसलिए नहीं कि हमें पर्याप्त जानकारी नहीं है बल्कि इसलिए कि अनिश्चितता व्यंग्योक्ति का सार है। सुकरात के बाद के सवालों की यही विशेषता है, जहाँ उसका चित्रण इस तरह किया जाता है कि जो वह कहता है वही उसका आशय भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। जब सुकरात ने कहा कि उसके पास नैतिक ज्ञान की कमी है तब उसने जो कहा, वही उसका आशय था यदि ज्ञान में निगमनात्मक निश्चितता और त्रुटिहीनता

है तब, लेकिन यदि ज्ञान को उसकी (सुकरात) द्वन्द्वात्मक जीतों का त्रुटियुक्त उत्पाद समझा जाता है तो जो उसने कहा वह उसका आशय नहीं है।

सुकरात के पास जो ज्ञान था वह ऐलेंचस के ज़िंदगी भर के अभ्यास पर आधारित है। ऐलेंचस अर्थात् दूसरों के विचारों पर प्रश्न उठाते हुए अपने स्वयं के विचारों पर लगातार प्रश्न उठाते रहना। नेहामास हमें इस ज्ञान के कुछ उदाहरण देते हैं जैसे यह विचार कि अन्याय करने के बजाय स्वयं कष्ट पाना श्रेयस्कर है या कि मृत्यु का भय उसे शर्मनाक बना देता है या अपने से वरिष्ठ के आदेशों का उल्लंघन करना। सुकरात जो ज्ञान प्राप्त करना चाहता था और जो ज्ञान, उसके अनुसार, हस्तशिल्पियों के पास है उसमें वैषम्य देखता था। हस्तशिल्पियों की समस्या यह थी कि वे संभवत: यह विश्वास करते थे कि उनके शिल्प का ज्ञान उन्हें अच्छा जीवन जीने का ज्ञान भी देता है। कुतर्की (सोफ़िस्ट) यह दावा करते हैं कि आरेटे (किसी व्यक्ति या वस्तु के सद्‌गुण, प्रवीणता आदि) का तकनीकी या विशेष ज्ञान उनके पास है। लेकिन सुकरात के अनुसार यह संभव नहीं है। यद्यपि शिल्प से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह शुद्ध तार्किक नहीं होता और इसे निश्चित रूप से नियमों में पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, इसके बावजूद यह ज्ञान स्थायी होता है। एक बार प्राप्त करने के बाद इसे खो नहीं सकते। आपके उत्पाद उच्च गुणवत्ता के होते हैं और कम-से-कम सिद्धांत रूप में तो आप इसे दूसरों को समझा और दे सकते हैं। सुकरात मानता था कि उसके पास आरेटे के ज्ञान की कमी है।

आरेटे को मोटे तौर पर 'सद्‌गुण' कहा जा सकता है। सुकरात जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं, उस दृष्टि से यह परिभाषा बहुत संकीर्ण है। और जो 'प्रवीणता' की नयी अवधारणा है, नेहामास की राय में, वह अधिक कमज़ोर, रंगहीन और अस्पष्ट है। आरेटे को मानव के अलावा अन्य सजीव और निर्जीव प्राणियों और वस्तुओं (पशु, बर्तन, यंत्र इत्यादि) की विशेषताओं के संदर्भ में पूर्णरूप से उपयुक्त रूप में प्रयोग किया जा सकता है। नेहामास 'सफलता' को प्राथमिकता देते हैं, वह गुणवत्ता या गुणवत्ता का समूह है जो व्यक्ति (या वस्तु) को उस समूह के असाधारण सदस्य होने का दर्जा दिलाती है जिससे वह संबद्ध है। यह व्यक्ति को न्यायोचित रूप से महत्वपूर्ण बनाती है। इसमें तीन चीज़ें शामिल होती हैं– चीज़ों का आंतरिक ढाँचा और गुण, उनकी ख्याति और लोग जो उनकी सराहना करते हैं। क्या आरेटे सिखाया भी जा सकता है? यह प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति को अपने समकक्षों के बीच न्यायोचित प्रतिष्ठा पाने के लिए अपनों के बीच क्या करना होता है– सुकरात को यह बात मालूम थी। आरेटे वह नहीं सिखा सकता था। पहला कारण, वह नहीं जानता था कि आरेटे क्या है और दूसरा कारण, अन्य लोग उससे बेहतर नहीं थे जैसा कि उसकी ऐलेंचस की परीक्षाओं से सिद्ध हो चुका था। इसका निगमन और निश्चितता की सीमाओं से कोई संबंध नहीं है (ये समस्याएँ चिकित्साशास्त्र में भी मौजूद

हैं)। समस्या यह है कि आरेटे का इनमें से कोई भी अर्थ अविवादास्पद रूप से मानवीय गुणों के किसी खास समूह से जुड़ा हुआ नहीं है। इसके अतिरिक्त और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि आत्म के पोषण के विशेषज्ञ से, शरीर के पोषक खाने के विशेषज्ञों से भिन्न, आरंभिक संव्यवहार के बाद सलाह नहीं ली जा सकती क्योंकि इस संव्यवहार में ही सब कुछ शामिल है। आरेटे के आचार्यों से तब तक संपर्क नहीं करना चाहिए जब तक यह मालूम न हो कि जो ज्ञान वह देंगे वह आत्म को नुकसान पहुँचायेगा या फ़ायदा। तो इस समस्या का हल क्या है?

चूँकि सुकरात की ऐलेंचस को जारी रखने की इच्छा थी जब तक कि कोई एक व्यक्ति भी ऐसा चाहता। दोनों व्यक्तियों द्वारा आवश्यक समझ बनाने पर ही यह प्रयास सफल हो सकता था। अंत में मिली मान्यता केवल 'साझी' ही हो सकती है। प्रत्येक भागीदार को एक दूसरे के विचार से और इसलिए तौर-तरीकों से भी बिना दबाव के सहमत होना ज़रूरी होता है। अतः दोनों अपने बाकी विश्वासों और सिद्धांतों के झगड़े में पड़े बिना इस परिभाषा के आकार पर काम कर सकते हैं। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि एक व्यक्ति जिसने, नेहामास के अनुसार सुकरात को एक अच्छे इंसान के रूप में पहचाना जो कि वह था भी, वह वो व्यक्ति है जो संवादों में कहीं नहीं है और वह स्वयं प्लेटो है। सुकरात का चरित्र एक साहित्यिक पात्र के रूप में यहाँ खत्म नहीं होता। दूसरे शब्दों में, सुकरात एक वास्तविकता है क्योंकि हम उसकी दुनिया में बसे हैं न कि वह हमारी दुनिया में। नेहामास का कहना है, सुकरात यह चाहता है कि हम उसकी नयी जीवन शैली को अपनाएँ, जबकि उसके पास हमें सहमत करने के लिए कोई तर्क नहीं है कि हमें यह अवश्य करना चाहिए– 'हम दार्शनिक जीवन से जिसकी अपेक्षा कर सकते हैं वह यह कि विचार और कर्म दोनों में, जिनसे दार्शनिक जीवन बनता है, संगति हो, यह नहीं कि कर्म विचार का नतीजा हो। 'विचार' और 'कर्म' दोनों की ही ज़िंदगी में बराबर की हिस्सेदारी है, इसलिए कोई कारण नहीं कि एक दूसरे से पहले हो।' यहाँ अंततः स्पष्ट हो जाता है कि क्यों नेहामास मानते हैं कि प्लेटो ने पाठक के साथ न्याय नहीं किया।

उपरोक्त विचारों से शैक्षणिक सिद्धांत और शोध के बारे में बहस के अनेक प्रासंगिक मुद्दे उठते हैं। बहुतों के लिए शिक्षा जिसमें विटगेनस्टाइन और नीत्शे भी शामिल हैं, अंततः आत्म-शिक्षण है। यह बात सुकरात के मत के समानांतर है कि जहाँ गुण से सरोकार होता है वहाँ कोई शिक्षक नहीं होते। लेकिन ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि कम-से-कम जैसा जेनोफान ने चित्रित किया है, सुकरात अपने दोस्तों के लिए अत्यंत उपयोगी और हितैषी था–इस व्याख्या का मोंटेन भी समर्थन करते हैं जिन्होंने सुकरात के इन सामान्य नीति वचनों, 'जितनी ताकत तुम्हारे पास है उसी के अनुरूप जीओ' और 'प्रकृति के नियमों का पालन करो' पर ज़ोर दिया। इस प्रकार के नीति वचन शिक्षा के 'आरंभ की ओर संकेत करते हैं'। इससे

आगे वे यह बताते हैं कि आत्म की ओर जाने वाला मार्ग दूसरों के मार्ग को पार करके अवश्य गुज़रता है, कभी-कभी क्रूरतापूर्ण तरीके से भी, लगभग खालिस तौर पर लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन की तरह। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बिटगेनस्टाइन और नीत्शे के दर्शन में भी इस तरह के निहितार्थ हैं। अत: जीने की कला' और 'ऐसा बनना जो एक मॉडल से भिन्न हो' के प्रति आग्रह किसी-न-किसी प्रकार के 'आरंभ' को ज़रूरी तौर पर पहले से ही मान लेता है। आगे इसका समर्थन आरेटे के अर्थ में 'सफलता' के रूप में मिल सकता है। 'ख्याति' के ज़रिये, जिसका आधार प्रशंसक भी होते हैं, आरंभ करने के लिए कुछ समान भूमि तलाशी जा सकती है। इससे एक प्रश्न पैदा होता है कि क्या कोई सामान्य आधार है? इस मुद्दे पर मैं बाद में वापस लौटूंगा।

हमें किस प्रकार के सिद्धांत और शोध की आवश्यकता है?

जैसा कि मैंने यहाँ तर्क दिया है, शैक्षिक संदर्भों में शिक्षा दर्शन से या अधिक सामान्य रूप में शैक्षणिक सिद्धांत से प्राप्त अंतर्दृष्टि का प्रयोग समीचीन नहीं होगा। मुझे लगता है इस विचार को अधिकांश सिद्धांत निर्माता और उपयोगकर्ता दोनों ही शिक्षाशास्त्रीय कारणों और नैतिक कारणों से भी स्वीकार करते हैं। हालाँकि सिद्धांत के प्रकार के बारे में मत अलग-अलग हैं। आनुभविक की अधिकांश गतिविधियाँ भविष्य कथन के तार्किक ढांचे पर आधारित हैं। यह खतरों और आकस्मिकताओं से बचने के प्रयास में प्राकृतिक विज्ञान के सदृश होना चाहती हैं, किंतु ऐसा लगता है कि शोध को यह अंतिम रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि शैक्षिक संदर्भों में यह संभव नहीं है। आखिरकार इन सबके उपरांत जिन अंतर्दृष्टियों की हमें आवश्यकता है वे दार्शनिक चिंतन-मनन से प्रभावित और मिलती-जुलती हैं।

सामान्य तौर पर यह कहा जाता है कि दार्शनिक तर्क में कुछ प्रश्न अर्थहीन हो जाते हैं। दार्शनिक इसका विरोध कर सकते हैं और अपनी कृति के एक और पठन के लिए आमंत्रित कर या एक और व्याख्या प्रस्तुत कर उत्तेजित कर सकते हैं। लेकिन वे मजबूर करने वाला तर्क नहीं थोप सकते चाहे वह विशिष्ट शैक्षणिक प्रैक्टिस के समर्थन की बात हो या विशिष्ट शैक्षणिक सिद्धांत के पक्ष में तर्क करने की। सुकरात के लिए कम-से-कम एक विशिष्ट पठन में जीवन से संबंधित सवाल के उत्तर को 'और इसलिए क्या करना चाहिए?' इससे संबंधित होने पर खुला रखना पड़ा था। इस व्याख्या को कुछ लोग इस अर्थ में लेंगे और इस बात पर ज़ोर देंगे कि प्रत्येक उत्तर आवश्यक रूप से अनंतिम होता है। यदि इस संबंध में प्लेटो की भूमिका के बारे में नेहामास का कहना सही है और हम प्लेटो द्वारा पाठक को युक्ति द्वारा प्रभावित करने की बात को सराहनीय मानते हैं, तब यह श्रेयस्कर हो सकता है कि हम ऐसी स्थिति को स्वीकार करें कि अंत में जीवन के इस या उस पक्ष के बारे में केवल एक विशिष्ट चीज़, फैसला या

प्रतिबद्धता को प्रस्तावित किया जा सके। इस विचार के मद्देनज़र एक स्पष्ट स्थिति निर्णीत हो जो तटस्थ रहने के बजाय चीज़ों को 'कैसा होना है' पर ज़ोर दे और जिसमें पूर्व मान्यताओं को चिह्नित करने और पहेलियों को सुलझाने का प्रयास हो। तब क्या यह बेहतर नहीं होगा कि इस अधिकार को आरंभ से ही स्वीकार किया जाए और इस प्रकार हम अपने दार्शनिक मनन-मंथन में विशेष मार्ग या दिशा के प्रति स्पष्ट रूप से प्रतिबद्ध हों? किसी चीज़ को पूर्ण रूप से त्रुटिहीन बनाने के तथाकथित प्रयास में भी कुछ तत्वों को बाहर कर देने की ज़रूरत होती है। दार्शनिक की हैसियत से अपने तर्कों में हमें शैक्षणिक विषयवस्तु को अवश्य डालना चाहिए। अन्यथा, सब कुछ जो हम करते हैं, वह है दूसरों के रास्ते में आड़े आना और उनकी बार-बार आलोचना करना।

प्रतिबद्धता की ओर मुड़ने और नेहामास का अनुसरण करने के खिलाफ़ तर्क में इस तथ्य को लाया जा सकता है कि सुकरात प्लेटो का एक साहित्यिक पात्र था। इस बात को याद रखना महत्वपूर्ण है कि शिक्षाशास्त्री या शिक्षक जो कि बच्चों के लिए या सीखने वालों के लिए आवश्यक रूप से दुनिया का एक ढाँचा निर्मित करते हैं, कभी भी पूर्ण रूप से अप्रतिबद्ध नहीं हो सकते। शिक्षक केवल अपने उन छात्रों के बारे में जो शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं (अर्थात् दीक्षित हो चुके हैं) साधारण अर्थ में या जहाँ उन्होंने स्वेच्छा से स्वयं एक स्वतंत्र अभिरुचि को अपना लिया हो, आत्म-संतुष्टि की विडंबना में जी सकते हैं। ये कहने का मतलब यह नहीं है कि साहित्यिक पात्र प्रेरित नहीं कर सकते या कि विडंबना कुछ शैक्षणिक संदर्भों में अत्यधिक मददगार नहीं हो सकती। बल्कि मेरा मंतव्य यह है कि एकमात्र व्यंग्य को अपने आप में पर्याप्त समझना या अनन्य मॉडल के रूप में देखने से काम नहीं चलेगा। स्थितियाँ कैसी हैं या अधिक सटीक ढंग से कहें तो स्थितियाँ कैसी थीं, यह जानना महत्वपूर्ण है। इस प्रकार का ज्ञान लोगों को अपने प्रयासों में खतरों से बचने में और अपनी ज़िंदगी और दुनिया को व्यवस्थित रूप देने में मदद करता है। इस मंतव्य को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान में प्रभावी उपलब्धि केंद्रित विमर्श को अंगीकार कर लेना चाहिए जो नैतिक कर्मों में आगे खतरों को दर-किनार करने या बाहर रखने का और मापनीय परिणामों को मानवीय उपलब्धि और प्रवीणता के प्रतिमान बनाने का प्रयास करता है।

हम एक अविश्वास के युग में जी रहे हैं और ऐसे समय में यह पहले ही मान लिया जाता है कि स्वनिष्ठता ऐसा क्षेत्र है जिसमें आत्मनिर्बाध रूप से अपने मतों को रखा जा सकता है, का एकमात्र विकल्प विज्ञान और सांख्यिकी की कड़ी वस्तुनिष्ठता है। ऐसा क्षेत्र जिसमें आत्म को बाहर कर दिया जाता है। लेकिन इन दो चरम सीमाओं के बीच भी स्थान है और अच्छा ख़ासा स्थान है। इस स्थान में अन्य चीज़ों के साथ, निर्णय करने की क्षमता स्थित होती है। ज़िंदगी के ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं, साहित्यिक समालोचना से लेकर खेलों की

अंपायरी तक जहाँ निर्णय को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। कितनी ही कड़ाई से खेल प्राधिकरण नियमों का निर्धारण करें कि किसी क्रिया को करने का कोई ख़ास तरीका नियमसंमत नहीं है, फिर भी किसी–न–किसी निर्णायक की आवश्यकता ज़रूर होगी कि कोई क्रिया नियमों के तहत् मान्य है अथवा नहीं। किसी भी चीज़ के लिए नियम–कानून बनाने के प्रयास के केंद्र में एक प्रकार की अस्वीकार्य 'सीमा बांधने' की प्रक्रिया काम करती है। तार्किक दृष्टि से यह विशिष्ट चीज़ों, अभिव्यक्तियों या गतिविधियों को 'आवश्यक और पर्याप्त परिस्थितियों' के दायरे में परिभाषित करने से संभव होता है, ताकि उन्हें बिना अस्पष्टता के उद्धृत किया जा सके और हम उनकी तुलना कर सकें और उनके बारे में सार्थक बातचीत कर सकें। लेकिन जैसा कि बहुत से ज्ञान–मीमांसकों ने तर्क दिया है, यह किसी स्थल से दृष्टिपात किए बिना नहीं हो सकता। हम हमेशा एक ख़ास दुनिया के प्रभावों में दबे होते हैं (सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक)– एक ऐसी अवस्था जिससे हमारा नज़रिया बनता है, जहाँ कुछ चीज़ें हमारे लिए मायने रखती हैं और कुछ नहीं। उदाहरण के लिए, यौनिक छेड़छाड़ का अर्थ जायरे और नार्वे में समान नहीं है, न ही इसका अर्थ अपरिहार्य रूप से विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में किसी विशिष्ट समाज में लगातार एक–सा रहा है। हमें याद रखना चाहिए कि किसी महत्वपूर्ण घटना के अनेक पहलुओं को एक तरफ रखने और नज़रअंदाज़ करने पर ही ऐसी तुलना करना संभव होता है। एक मुद्दा यहाँ यह उठता है कि क्या इस तरह आगे बढ़ने से कोई लाभ होगा? हम एक जाल में फंसने का जोखिम ले रहे हैं। प्याज़ की परतें उतारने जैसा जोखिम। यदि आप सार तत्व की तलाश में परतें उतारते जाएँगे तो अंत में आपको कुछ भी नहीं मिलेगा।

इसी तरह स्टीफेन तोलमिन शेक्सपियर के समय के और वर्तमान रंगमंच की तुलना करते हुए कहते हैं कि शेक्सपियर के समय में दर्शक नाटक का हिस्सा होते थे, उसके बाद की सदियों में दर्शकों को कलाकारों से अलग कर दिया गया। तोलमिन इसे एक अलंकार के रूप में यह दिखाने के लिए प्रयोग करते हैं कि देकार्ते के बाद ज्ञान की स्थिति क्या रही। हम वस्तुनिष्ठ दर्शक हो गए हैं और इस प्रक्रिया में हमने एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लिया है पर दूसरे प्रकार के ज्ञान से संपर्क टूट गया है। कहने का तात्पर्य यह कि अब हमें चीज़ों का उनके अर्थों में उनके अंतर्संबंधों का बोध नहीं है। हम उन्हें उनकी वास्तविकता का अध्ययन करने के लिए अलग करते हैं और तब यह चिंता करते हैं कि उनके आपस में एक–दूसरे से क्या संबंध हैं। यह इसलिए तय करते हैं क्योंकि हम पेचीदगियों में जीना नहीं चाहते। चकाचौंध करने वाली भिन्नताओं से जब हमारा सामना होता है तो स्थिति पर काबू पाने के लिए हम विशेष में सामान्य की लालसा करते हैं, इस भ्रम में आनंदित होते हुए कि यह अप्रोच दुनिया की आकस्मिकता में खो जाने से हमें बचा लेगी।

हम ऐसी फंतासी को पसंद करते हैं जिसमें

शक्ति से संबंधित मुद्दों को नज़रअंदाज़ किया जा सकता है जिसमें ज्ञान को उन कारणों से महफ़ूज़ रखा जा सकता है जो इसको विकृत करते हैं। सबसे बेहतर तो यह है कि हम इस तरह व्यवहार करते हैं मानो यदि हम उन ज़रूरतों की पूर्ति पूरी तरह न भी कर सकें जो इन माँगों में निहित हैं, तो भी हमें वहाँ तक पहुँचने की कोशिश तो करनी ही चाहिए जहाँ तक हम जा सकते हैं। यही सबसे अच्छा विकल्प है, ऐसा आग्रह करना अथवा इसे निहित मान लेने का अर्थ होगा एक तात्विक दावा करना जिसके लिए आनुभविक प्रमाण जुटा पाना असंभव होगा। अनुभववाद को आनुभविकता के द्वारा औचित्यपूर्ण सिद्ध नहीं किया जा सकता और अनुभववादी की प्रवृत्ति होती है कि वह अपने इस दावे का सहारा लेता है कि 'यह विकल्प-सक्षम है, कारगर है' जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है। इसमें आंशिक रूप से समस्या यह है कि अतिशुद्धता का हमारा आदर्श ही हमारी दृष्टि को धुंधला कर सकता है। अनुभववाद और विज्ञानवाद के मत को विज्ञान की अधिक सरल दृष्टि से प्रतिस्थापित करना शायद बुद्धिमता की ओर पहला कदम होगा। निश्चित ही ऐसा कहने का यह आशय नहीं है कि वैज्ञानिक विधि की समाज विज्ञान में कोई भूमिका ही नहीं है, बल्कि यह कि विशिष्ट कार्य में इस विधि को अन्य तरीकों के रू-ब-रू अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करनी चाहिए, जो अंतर्दृष्टि और समझ प्रस्तुत करती हो, चाहे वह मापन और सांख्यिकी को साथ जोड़ने से हो या उनके बिना। अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए सांख्यिकीवेत्ताओं तथा मापन के प्रणेताओं को विभिन्न और कम आनुभविक निष्ठा वाले समाज वैज्ञानिकों से कई मामलों में बहस करनी होगी, जो सभी संबंधित व्यक्तियों के लिए उपादेय हो सकती है।

व्यंग्य और प्रतिबद्धता

एक अंतिम व्यंग्यात्मक टिप्पणी करना ज़रूरी है। विटगेनस्टाइन ने अपने फिलोसोफिकल इनवेस्टीगेशंस के आमुख के प्रथम मसविदे में लिखा था, 'अभी भी तथ्य यह है कि यूरोपीय सभ्यता के प्रवाह को मैं बिना सहानुभूति के सोचता हूँ और इसके उद्देश्यों पर, यदि कोई हो तो, समझे बिना विचार करता हूँ।' यह बहुत ही संदिग्ध है कि नेहामास जिस दार्शनिक जीवन की इतनी प्रशंसा करते हैं, बहुतों के लिए या कुछ के लिए ही सही, अभी भी संभव हो। ज्ञान की सुकराती कल्पना को आत्म की जिस एकता की ज़रूरत है, क्या इसे पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार करना अभी भी अर्थपूर्ण होगा? उसके लिए ज्ञान मात्र तर्क की विषयवस्तु नहीं थी चाहे वह एक शोध प्रबंध के लिए कितना ही अच्छा क्यों न हो। इसके लिए ज़रूरी है कि व्यक्ति के बाकी विश्वास, और इसलिए उसका संपूर्ण जीवन उसके तर्कों के अनुरूप हो—जहाँ तक उसके बस में हो। समकालीन समाज की अनेकत्व की विशेषता के कारण यह संदेहास्पद है कि उद्देश्य की ऐसी एकता अभी भी संभव है। यह तर्क दिया जा सकता है। अभी बहुत ज़्यादा ऐसा है जिसे सुलटाना है, या बहुत ज़्यादा

ऐसी पहचानशुदा चीज़ें हैं जो किसी को पसंद आ सकती हैं, या बहुत ज़्यादा ऐसी हैं जो दूसरे व्यक्ति के साथ संबंध में अड़चन पैदा करें, या बहुत ज़्यादा चीज़ें ऐसी हैं जिनके पीछे कोई छिप सकता है, या बहुत ज़्यादा उपलब्धियाँ हैं जो हर चीज़ को अन्य हर किसी चीज़ से आनुपातिक होने की माँग करती हैं।

बिटगेनस्टाइन के उद्धरण के आगे का अंश है, 'इसलिए मैं वास्तव में दुनिया के हर कोने में फैले मित्रों के लिए लिख रहा हूँ।' तो अब हम वास्तव में किसके लिए लिख रहे हैं? स्वाभाविक ही यह 'दूसरों के लिए' नहीं हो सकता क्योंकि मानव समाज केवल विशिष्ट उत्तरों में दिलचस्पी रखता है (सैद्धांतिक और व्यावहारिक)। तब क्या हम उनके लिए लिख रहे हैं जो इस प्रकार सोचते हैं? यदि ऐसा है तो हमारी अप्रोच समाज वैज्ञानिकों से कतई अलग नहीं है जिनकी हमने पहले आलोचना की थी। क्या हम 'तितलियाँ इकट्ठा करने' से ज़्यादा कुछ कर रहे हैं, इसके बावजूद कि हमारी सोच का रुझान इस ओर हो कि हमने एक सुंदर प्रजाति को ढूँढ़ लिया है? क्या यह प्रतिक्रिया समय के रोगग्रस्त होने के खिलाफ है? जो इस अर्थ में निष्क्रिय नहीं है जैसा कि बिटगेनस्टाइन का मंतव्य था जो उन्होंने तत्व विज्ञान पर बात करते हुए रखा था और यदि हम 'द्वंद्व' चाहते हैं, तब हमारे दिमाग में क्या आता है? फूको को भी इस समस्या से जूझना पड़ा था। 'आत्म की देखभाल' की अवधारणा में जिसे इस रूप में परिभाषित किया गया था कि व्यक्ति के विवेक का प्रयोग यह जानने में होता है कि वह कौन है और कैसे सबसे अच्छा इंसान हो सकता है जिसमें साहस अहम भूमिका निभाता है। उनका आग्रह यह जानने का भी रहा कि नगर के लिए सुकरात की क्या उपयोगिता थी, उसके साथियों के लिए उसका क्या महत्त्व था, उसके मित्रों को उससे क्या फ़ायदा था। फूको मानता था कि अव्यक्तिगत ताकतों के अंध प्रचलन से इतिहास निर्देशित होता है। कर्ताओं द्वारा शक्ति का संचालन नहीं किया जाता है, शक्ति ही उन्हें निर्मित करती है; यद्यपि शक्ति का संचार व्यक्तियों द्वारा होता है, यह अधिकांशत: (प्राय:) उनके नियंत्रण में नहीं होती। अनेक प्रकार की सूचनाएँ जिस तरह लोगों का वर्णन करती हैं, उसके लिए भी व्यक्ति होने का, जो कि वह है यही अर्थ है। इसके अतिरिक्त, फूको के अनुसार लगता है कि हर अच्छी चीज़ का बुरा पहलू भी होता है, लेकिन हर बुरी चीज़ सही परिस्थितियों में अच्छे में भी तब्दील हो सकती है। इस तरह विषय गायब नहीं होता; बल्कि उसकी बढ़े हुए आकार की तरह की गई एकता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया जाता है। मतलब यह कि इतिहास में अंतर्निहित मूल वास्तविकता नहीं है, लेकिन यह असल में कोई कल्पना भी नहीं है और जो कर्ता है, वह भी अंतत: न तो स्वतंत्र है और न ही वास्तव में एक कठपुतली। 'आत्म की देखभाल' में उन तकनीकों का उल्लेख है जिनका उद्देश्य व्यक्ति को एक ऐसा इंसान बना देना है जिस पर गर्व किया जा सके। फूको ने कलाकृति के सृजन

को 'आत्म की देखभाल' के मॉडल के रूप में देखा, जिसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता भी है। फूको के लिए निजी और सार्वजनिक, नैतिक और राजनीतिक एक दूसरे में उलझे हुए हैं जैसे ज़िंदगी और काम। अपने को रूपांतरित करके फूको ने दूसरों की ज़िंदगी में महत्वपूर्ण परिवर्तन पैदा किए और अपने विचारों के अनुरूप जीवन बिताते हुए, वह उन लोगों के प्रति गहन प्रेम अभिव्यक्त कर पाया जो उसके साथ गतिविधियों में शामिल नहीं थे और व्यावहारिक दृष्टि से हाशिए पर थे। माना कि उस वास्तविकता को, जिसमें व्यक्ति जीता है, अवधारणात्मक रूप देने के गंभीर प्रयास में सिद्धांत की केंद्रीय भूमिका होती है। पर इस प्रकार का सिद्धांत गहनतर सुकराती व्यंग्य को एक कदम और आगे ले जाता है। यह व्यवहार और सिद्धांत के पारंपरिक द्वि-विभाजन के पार जाकर वास्तविकता को परिवर्तित करने का प्रयास करता है।

जो संकीर्ण और कड़वा सबक सीखने की ज़रूरत है, वह यह कि उस समय जब अधिकांश लोग आश्चर्यचकित नहीं होना चाहते हों, तिकड़मी तरीकों से प्रभावपूर्ण होना चाहते हों और नियंत्रित करना चाहते हों—उन सब चीज़ों से बचने के लिए जो हमें पसंद नहीं हैं, संतोष की स्थिति को आगे के लिए न टालना पड़े इसलिए, (एक पॉप सम्राज्ञी के कथन का अनुसरण करते हुए, 'मुझे यह सबकुछ चाहिए और अभी चाहिए'), ऐसे समय में सिर्फ़ शिक्षा ही सिखा सकती है कि शक्ति पर आधारित संबंधों से और आमतौर पर शक्ति से कैसे निबटें। लेकिन शिक्षा भी सुझा सकती है थोप नहीं सकती। दूसरे शब्दों में, विशिष्ट प्रतिबद्धताओं के लिए अपील कर सकती है। विडंबना है कि यह अंतर्दृष्टि भी सैद्धांतिक ही है जिसके बारे में हम विश्वस्त नहीं हो सकते लेकिन विरोधाभास यह है कि यह एक ऐसी चीज़ है जिसके बारे में हम अधिक विश्वस्त होने से बच नहीं सकते। यह तत्वविज्ञान या तार्किक प्रकृति की है, ऐसा कहा जा सकता है। और यह आग्रह याद दिलाता है कि हमें सीढ़ी को सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद फेंक देना चाहिए। शायद हमारे पास और अच्छी प्रैक्टिस का अभाव है और शायद परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि इस पर काबू नहीं पाया जा सकता। यह स्थिति फिलोसोफिकल इनवेस्टीगेशंस में दिए बिटगेनस्टाइन के मत से मेल खाती है कि हमें कोई सिद्धांत प्रतिपादित नहीं करना चाहिए। शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष के समानांतर, जिसकी विशेषत: दीक्षा भी उतनी ही है जितना कि खुलापन, हमें सिद्धांत के अभ्यास की ज़रूरत है—और सामान्य रूप में शैक्षणिक की संलग्नता की जो 'प्रतिबद्धता से आवेशित' हो।

शिक्षा के दार्शनिकों का दायरा यदि और बड़ा करें तो सभी को जो शैक्षणिक सिद्धांत या शैक्षणिक शोध की प्रकृति से संबंधित बहस में संलग्न हैं, इसका पूरी तरह अहसास होना चाहिए। शोध (आनुभविक) का उपहास करना बहुत आसान है और हम मार्क्स के इस कथन की सच्चाई से कि हम अपने पर सबसे पहले संपूर्ण सामाजिक परिवेश की प्रकृति के अनुकूल, हितों द्वारा संचालित किए जाते हैं, से सहमत न हों।

इसके बावजूद जैसा कि हममें से कुछ अपने व्यावहारिक अनुभवों से पहले से ही जानते हैं, हमें शैक्षिक नीति और अभ्यास के विस्तृत विश्लेषण की आवश्यकता है उन सुझावों के साथ कि स्थितियाँ अन्यथा कैसे बेहतर हो सकती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में और सदैव बढ़ती हुई सीमा में अनुप्रयुक्त विज्ञान के विचार को जिसमें शैक्षणिक हस्तक्षेप आनुभविक 'रहस्योद्‌घाटनों' का परिणाम होता है, तिलांजलि दी जा रही है। ऐसा विकास के सिद्धांत के पक्ष में किया जा रहा है, जो स्वयं हस्तक्षेप में से ही विकसित हो सकता है। इसी में विकास की एक दिशा भी देखने को मिलती है जिसमें शिक्षाशास्त्रीय शोध की नवाचारात्मक भूमिका पर ज़ोर दिया जा सकता है। इस प्रकार 'काल्पनिक' परिप्रेक्ष्य एक नयी मान्यता प्राप्त कर लेता है; आनुभविक और दार्शनिक शोध, मात्रात्मक और गुणात्मक शोध का संयोजन हम पर फिर हावी हो जाता है।

हमारी वैश्वीकृत दुनिया में प्रकल्पित तटस्थता की सुरक्षा का प्रयास शिक्षा को खतरे में डालता है। हमें शिक्षा की ऐसी अवधारणा की ज़रूरत है जो आकस्मिकता और खतरे से बचाव को असंभव मानते हुए उद्देश्यपूर्ण और फलदायक हो सके। अब सुस्पष्ट नैतिक (शायद राजनीतिक भी) प्रतिबद्धताओं का समय आ गया लगता है और इसलिए नीत्शे के विचार के नवोन्मेष का भी कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य इस पर निर्भर करता है कि इसने संपूर्ण को, जिसका वह हिस्सा है, क्या योगदान दिया। एक सामान्य निष्कर्ष इस सबका यह निकाला जा सकता है कि हमें स्पष्टीकरण और शैक्षणिक अभ्यास में विशिष्ट विकास के विशिष्ट मॉडलों की आलोचना करते रहना पड़ेगा। सुझाव यह भी दिया जा सकता है कि हमें नयी संभावित नुकसानदायक गतिविधियों के प्रति और नए बाहरी और आंतरिक शक्ति केंद्रित संबंधों के प्रति सावधान रहना पड़ेगा। मात्र इसकी पैरवी करना काफ़ी नहीं होगा कि 'हम हर समय आलोचक बने रहें।' बल्कि हमें विशिष्ट सुझावों के साथ उपस्थित होना होगा और इस प्रकार अपने को शैक्षणिक शोध और अभ्यास में सच्चे भागीदार के रूप में प्रस्तुत करना होगा और इसलिए हम भी आलोचना के पात्र होंगे। यही और केवल इसी प्रकार के राजनीतिक शोध वास्तव में प्रत्यक्षवाद और नकारवाद के परे होंगे। यही और केवल यही अप्रोच अधिकाधिक रूप में की जा रही बेकार और निष्फल शोध के खेल से मुक्त कर पाएगी। ऐसे जोखिम भरे शोध में इन सबके लिए स्थान होगा– पूर्व में जो भी मूल्यवान था; जो वर्तमान में करने योग्य है और वे चीज़ें जिन्हें भविष्य में छोड़ा नहीं जाना चाहिए।

–अनुवादक
सुरेन्द्र कुशवाहा